

शैक्षिक प्रगति का स्वरूप और सीमांत समाज

डॉ. सय्यद आसिम रिज़वी

असिस्टेंट प्रोफेसर (Contractual), समाजशास्त्र विभाग, शिया पी जी कॉलेज लखनऊ

एक देश, राष्ट्र या समाज तभी विकसित बन सकता है जब वहाँ के सभी निवासी मुख्यधारा में अपना योगदान दे सकें। किसी समाज में ज्यादातर लोगों का विभिन्न कारणों से हाशिए पर चले जाना, एक ऐसे समाज का द्योतक है जहाँ सत्ता पर कुछ वर्चस्ववादी लोगों का कब्जा होता है और जो नीतियों के निर्धारण में अपना एवं समकक्ष समाज का विकास अधिक और सम्पूर्ण समाज के बहुमुखी विकास की ओर न्यूनतम उन्मुखता रखते हैं। इस दोहरेपन की मानसिकता के कारण समाज कभी भी विकास नहीं कर सकता है। अनुभव यह भी बताते हैं कि ये वर्चस्ववादी नीतिकार विभिन्न तरीकों से समाज पर कब्जा बनाये रखने के अपेक्षित प्रयासों में मशगूल रहते हैं और इनके द्वारा बनायी गयी नीतियाँ हाथी दाँत के समान होती हैं। इनकी असली नीतियाँ तो हाथी के असली दाँत होते हैं जो छिपे रहते हैं।

शिक्षा को मानव के सम्पूर्ण विकास का साधन माना जाता है। यह विकास भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक किसी भी रूप में हो सकता है। 'सा विद्या या विमुक्तये.....' शिक्षा मनुष्य के हाथ में एक ऐसा हथियार है, जिससे वांछित उद्देश्यों की पूर्ति की जा सकती है। शिक्षा के प्रकटीकरण का साधन होती है- भाषा। भाषा और शिक्षा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा, भाषा के माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करती है।

भारत में 'सत्ता-पकड़' राजनीति शुरू से ही हावी रही है। सत्ता में पकड़ को बनाये रखने के लिए विकास पर ध्यान दे पाना गौण हो जाता है। ध्यान के केन्द्र में सत्ता होती है और पूरा प्रयत्न इस सत्ता को बचाये रखने पर होता है। इस सत्ता की सुरक्षा विभिन्न हथियारों के जरिए की जाती है। 'शिक्षा' भी इसका एक प्रमुख हथियार बन जाती है और इस प्रकार प्रारम्भ हो जाती है- शिक्षा की राजनीति। भारत में ज्ञान के अभ्युदय के शुरूआती दौर से ही उपर्युक्त राजनीति के तहत समाज के एक बड़े वर्ग को ज्ञान अर्थात् शिक्षा से वंचित रखने का सुनियोजित प्रयास किया गया। भाषा ने भी इसमें अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस प्रकार एक बहुसंख्य आबादी को हाशिए पर ढकेल दिया गया।

भारत में शिक्षा के माध्यम से रूप में 'जनभाषा' कभी भी अपना स्थान नहीं बना सकी। भारत में 'ज्ञान' को हमेशा रहस्य के रूप में परोसा गया और भाषा इस रहस्यमयी ज्ञान को छिपाने का हमेशा एक साधन बनी रही। यद्यपि सदियों की प्रताड़ना के बाद स्वतन्त्र होने के पश्चात्, विकास की सुध के वक्त हमें यह रहस्य समझ में आया और हमने 'भाषायी नीतियाँ' बनानी शुरू भी की, किन्तु भाषायी नीतियाँ बनाते समय भी हमारी सदियों की आदत नहीं गयी और हमने 'भाषायी राजनीति' करनी शुरू कर दी।

स्वतन्त्रता के बाद संविधान में भाषा के विकास के लिए कई प्रावधान किये गये। इस प्रयास में मातृभाषा के महत्व को पहचानकर उसके विकास पर खासा जोर दिया गया। अनेक शैक्षिक नीतियों में भी मातृभाषा के विकास हेतु प्रावधान किया गया और शिक्षा में 'त्रिभाषा - सूत्र' को स्वीकार किया गया। फिर भी शिक्षा में आज भी भाषा एक समस्या बनी हुई है। कारण साफ है, शिक्षा में 'भाषा नीति' का या तो सही ढंग से प्रावधान नहीं हुआ था या फिर उसका क्रियान्वयन नहीं हो पाया है। उदाहरणार्थ - यदि 'त्रिभाषा-सूत्र' पर सही ढंग से अमल हुआ होता तो क्या हम उत्तर भारतवासी, दक्षिण भारतीय भाषा न सीख गये होते, जो हमें अबूझ पहेली लगती है। यह शिक्षा में राजनीति का ही तकाजा है कि आज तमिलनाडु जैसे राज्य में एक भी नवोदय विद्यालय नहीं है।

हम शिक्षा में कोठारी आयोग की 'पड़ोसी विद्यालय' (नेवरहुड स्कूल) और 'समान स्कूल व्यवस्था' (कॉमन स्कूल सिस्टम) की संकल्पना को सैद्धान्तिक तौर पर स्वीकार तो कर चुके हैं किन्तु व्यवहार में यह दिख नहीं रहा है। 'पड़ोसी विद्यालय' की संकल्पना शिक्षा में भाषायी मुद्दे का एक समाधान भी था। ज्ञातव्य हो कि बाद की शिक्षा नीतियों में इसे स्वीकारा भी गया है।

भारत में 'शिक्षा' सदैव राजनीति का शिकार रही है। शिक्षा में बाजारीकरण के प्रवेश ने सरकारी स्कूलों की हालत खस्ता कर दी। 'भाषा' यहाँ एक प्रमुख कारण के रूप में उभरी। चूँकि 'हाशिए के लोग' इन सरकारी विद्यालयों से आच्छादित रहे, अतः वे भी इस राजनीति की गिरफ्त में आ गये और भाषा उनके लिए एक चुनौती बनकर उभरी।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार - मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है। इससे तात्पर्य यह है कि शिक्षा मनुष्य को इस योग्य बनाती है कि वह अपने को पूर्णता में अभिव्यक्त कर सके। जब भी मनुष्य अपने को अभिव्यक्त करता है तो इस अभिव्यक्ति में भाषा और संस्कृति आधार का कार्य करती है। मनुष्य अपने मनोभावों को अपनी भाषा में सर्वोत्तम ढंग से अभिव्यक्त करता है। अब यदि अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करने में भाषायी बाध्यता खड़ी कर दी जाये तो व्यक्ति भाषाओं में ही अटक कर रह जाता है और उसकी अभिव्यक्ति अपूर्ण रह जाती है। स्पष्ट है कि पूर्णता की अभिव्यक्ति अपनी भाषा अर्थात् मातृभाषा में ही सम्भव है। भाषायी सन्दर्भ में विवेकानन्द का प्रश्न था - विदेशी भाषा में दूसरे के विचारों को रखकर, अपने मस्तिष्क में उन्हें ठूसकर और विश्वविद्यालयों की कुछ पदवियाँ प्राप्त करके, तुम अपने को शिक्षित समझते हो। क्या यही शिक्षा है ? स्वामी विवेकानन्द के अनुसार आध्यात्मिक सत्त्यों को जान लेना ही सच्ची शिक्षा है और यह मातृभाषा द्वारा ही सम्भव है।

भाषा और साहित्य का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। भाषा साहित्य सृजन का आधार है। साहित्य का उद्देश्य है - स्वयं के सार्थक अन्वेषण में मदद करना, आत्मविश्वास को दृढ़ बनाना और

सत्यान्वेषण में सहायता देना। लोगों की अच्छाइयों का उद्घाटन करना और बुराइयों का उन्मूलन करना। लोगों के हृदय में हयादारी, गुस्सा और साहस पैदा करना। ऊँचे उद्देश्यों के लिए शक्ति बटोरने में उनकी मदद करना और सौन्दर्य की पवित्र भावना से उनके जीवन को शुभ बनाना। अब यदि यह साहित्य अपनी भाषा के कारण आम जनमानस हेतु अबूझ पहेली बन जाय, तो ऐसे साहित्य के क्या मायने, हमें तो ऐसा लगता है कि ऐसा साहित्य खुद एक प्रकार से 'हाशिए के लोग' तैयार करता है।

स्कूल बच्चों के व्यवस्थित शिक्षा (औपचारिक शिक्षा) देने हेतु स्थापित किये गये हैं। कहने को स्कूल बच्चों में भाषा विकास का प्रक्रम करता है पर भाषा जीवन के सतत् अनुभवों से ही अर्थ ग्रहण करती है। भारतीय स्कूलों में पाठ्य पुस्तकों का ऐसा कठोर नियन्त्रण है कि स्कूल की चहारदीवारी के बाहर स्थित समाज की जीवन्त भाषा कक्षा में प्रवेश नहीं कर पाती। जबकि स्कूल को 'लघु समाज' की संज्ञा प्रदान की जाती है। किन्तु जब 'हाशिए के समाज' का बच्चा इस 'लघु समाज' में प्रवेश करता है तो उसे इस समाज की भाषा विचित्र एवं परायी-सी लगती है। अभी हाल में मध्य प्रदेश के हरदा जिले के आदिवासी बहुत इलाका राजबोरारी में शैक्षिक भ्रमण के समय जब वहाँ के प्राथमिक स्कूलों में कार्यरत शिक्षकों से भाषायी मुद्दे पर बात की तो उन्होंने बताया कि इन बच्चों को पाठ्य पुस्तकों की भाषा विदेशी भाषा जैसी लगती है। आज पाठ्य पुस्तकें स्कूल को उसके बाह्य समाज के सम्पूर्ण परिवेश से काटने का साधन बन गयी है। स्कूली स्तर पर प्रारम्भिक अवस्था में 'ड्राप आउट' का एक बहुत कारण पाठ्यक्रम की भाषायी समस्या भी बनी रही है। निष्कर्षतः यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है कि विद्यालयों में प्रचलित पाठ्यक्रम की भाषा (स्कूली भाषा) बच्चों को हाशिए पर ढकेलती है।

साधन के रूप में 'शिक्षा' व्यक्ति की इच्छाओं की प्रतिपूर्ति की एक बड़ी आशा होती है। पुरानी वर्ण व्यवस्था में शिक्षा सवर्णों की बपौती थी, नई वर्ण व्यवस्था में वह सवर्ण बनने का साधन बन गयी है। ज्ञात होना चाहिए कि आधुनिक समय में सवर्ण के निर्धारण का आधार केवल जाति नहीं है, बल्कि एक बड़ा आधार व्यक्ति की भाषायी स्थिति भी है। इस प्रकार भाषा समाज को उच्च वर्ण (उच्च वर्ग) और निम्न वर्ण (निम्न वर्ग) में बाँटने का कार्य भी करती है और इस प्रकार भाषायी आधार पर हाशिए के लोगों को तैयार करती है और इस रूप में एक वृहद हाशिए के समाज की उत्पत्ति का कारण बनकर प्रकट हो रही है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी की चिरकालिक उक्ति 'निज भाषा उन्नति अहै.....' पर यदि विचार करें तो ज्ञात होता है कि मातृभाषा उन्नति का आधार होती है। ज्ञातव्य हो कि उन्नति से तात्पर्य मानव के सम्पूर्ण विकास से है। भाषाजनित बल इसके सांस्कृतिक पक्ष एवं विकास के एक प्रमुख पक्ष के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसीलिए संस्कृति को नष्ट करने के लिए भाषा पर हमला किया जाता है, चूँकि भाषा संस्कृति निर्माण का एक बड़ा आधार होती है। संस्कृति से धर्म की राह निकलती है, धर्म से एकजुटता और फिर एकजुटता से वर्चस्व का प्रभुत्वा। इसीलिए मध्यकाल और ब्रिटिशकाल में

एकजुटता को खत्म करने के लिए धर्म, संस्कृति और भाषा पर कठोर प्रहार किये गये और भाषायी आधार पर अपनी संस्कृति की ऐसी घुट्टी पिलायी गयी कि भाषायी श्रेष्ठता की मानसिकता से प्रसित एक नये वर्ग का जन्म हो गया जिसने भाषायी आधार पर लोगों को हाशिए पर ढकेलने का प्रयास किया और यह मानसिकता स्वतन्त्रता के 73 वर्षों बाद भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

ब्रिटिशकाल में अंग्रेजी भाषा के प्रचार-प्रसार हेतु व्यवस्थित प्रयास किया गया। मूल कारण था - 'अंग्रेजी संस्कृति' का प्रचार-प्रसार। जिस तरह शिक्षा महज एक माध्यम नहीं है, उसी तरह अंग्रेजी सिर्फ भाषा नहीं है। वह एक संस्कार, एक मानसिक संरचना है। अंग्रेजी की साधना करने का आशय, अंग्रेजी की मानसिकता को स्वीकार करना है। आज हमें इसी अंग्रेजी मानसिकता पर आधारित 'पब्लिक' स्कूलों के सर्वत्र दर्शन होते हैं, जो मुख्यतः भाषायी आधार पर लोगों को अपनी तरफ खींचकर उनका शोषण करते हैं और इनसे निकलने वाले बच्चों का एक अलग संसार होता है जो 'हाशिए के लोगों' के दुःख-दर्द से सर्वथा विलगित रहते हैं और कभी-कभी तो 'उन्नति के शूल' बन जाते हैं। ये बच्चे जब भारत के विकास हेतु उच्च पदस्थ होते हैं तो इनकी सोच, मानसिकता और कार्यशैली में अंग्रेजों जैसा व्यक्तित्व प्रस्फुटित होता है।

आज भारत में प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमीकरण हेतु 'शिक्षा का अधिकार अधिनियम' को क्रियान्वित किया जा रहा है। इसमें शिक्षा की गुणवत्ता को बनाये रखने हेतु अनेक प्रावधान किये गये हैं। इसमें 'हाशिए के लोगों' का भी ख्याल रखा गया है तभी उन्हें 'प्राइवेट पब्लिक' स्कूलों में एक चौथाई सीटों पर आरक्षण का अधिकार दिया गया है। इन स्कूलों की भाषा उच्च वर्ग के लोगों की भाषा का प्रतिनिधित्व करती है। अतः निम्न वर्ग से सम्बन्धित बच्चा ऐसे माहौल में अपना आत्मविश्वास और मानसिक क्रियाशीलता खो बैठता है और अपनी भाषा, संस्कृति और समाज को तुच्छ समझने लगता है और स्वयं भी अपने को तुच्छ समझने लगता है। इस प्रकार उसका विश्वास सर्वथा प्रभावित हो जाता है। यह प्रक्रिया बच्चे को समुद्र में फेंक देने के समान है जहाँ वृहद जल स्रोत में रहते हुए भी वह अपनी पिपासा शान्त नहीं कर पाता है और इस समुद्र (स्कूल) से पलायन करना चाहता है। अंग्रेजी को आज एक वर्ग विशेष अपने वैचारिक खोखलेपन को ढँकने के लिए एक चर्बी के रूप में भी प्रयोग करता है। अपनी वैचारिक शून्यता और संघर्षशील चेतना को वह अंग्रेजी के आवरण से ढँककर एक चमकदार पन्नी वाले पैकेट के रूप में परोसता है जिसकी ओर सभी सामान्यजन आकर्षित हो जाते हैं, ये तो बाद में समझ में आता है कि पैकेट में कूड़ा भरा है।

बाल मनोवैज्ञानिकों ने पुष्टि की है कि भाषा, शिक्षा और मानसिक विकास में अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध है। मानसिक विकास में चिन्तन, मनन (शिक्षा) का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान होता है और इस चिन्तन-मनन के आधार के रूप में भाषा का। शुरूआती दौर में बच्चा चिन्तन-मनन अपनी भाषा में करता है। मस्तिष्क की क्रियाओं पर हुए शोध बताते हैं कि मस्तिष्क का एक भाग केवल मातृभाषा के जरिए सीखने और संवाद करने के लिए प्रतिबद्ध होता है। बाद में मस्तिष्क में एक नया हिस्सा विकसित होता

है जो अन्य भाषाओं को सीखने की क्षमता रखता है। स्पष्ट है कि शुरूआती दौर में बच्चे के पठन-पाठन की भाषा मातृभाषा ही होनी चाहिए। शोध यह भी बताते हैं कि यदि शुरूआती दौर में ही बच्चों को मातृभाषा के अलावा अन्य भाषाएँ सिखाने पर जोर दिया जायेगा तो मस्तिष्क का वह भाग जो मातृभाषा के लिए है - में भण्डारित सूचनाएँ नष्ट हो जायेंगी। बात साफ है कि यदि बचपन में मातृभाषा की अवहेलना की जायेगी तो मस्तिष्क की सम्भावना घट जायेगी। शैक्षिक शोध यह भी बताते हैं कि बच्चे की समझने और अभिव्यक्त करने की क्षमता बचपन में मातृभाषा के जरिए सीखने की क्षमता पर निर्भर है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में यदि भारत के वर्तमान शैक्षिक परिदृश्य पर विचार किया जाये तो ज्ञात होता है कि सरकार पूर्व प्राथमिक शिक्षा (जिस अवस्था में भाषा का सर्वाधिक विकास होता है) के प्रति पूर्णतः उदासीन है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में निजी क्षेत्र की सर्वाधिक भागीदारी है। निजी क्षेत्र उपर्युक्त शोधों के तथ्यों को झुठलाते हुए सीखने-सिखाने की प्रक्रिया 'विदेशी भाषा' में प्रारम्भ करते हैं। सरकार सीखने-सिखाने की प्रक्रिया कक्षा एक से स्वीकार करती है (क्योंकि इसके पहले की शिक्षा के लिए तो वह प्रतिबद्ध ही नहीं दिखती) और राष्ट्रीय ज्ञान आयोग (2006) द्वारा कक्षा एक से ही (अर्थात् शुरूआती दौर से ही) विदेशी भाषा (अंग्रेजी) सीखने पर जोर देना आश्चर्य में डाल देता है। आज भारत के सरकारी स्कूलों में भी कक्षा एक के स्तर पर ही किसी न किसी रूप में कई भाषाएँ सिखायी जानी प्रारम्भ कर दी जाती हैं। इस आधार पर तो हमारे 'पब्लिक स्कूल' पूर्णतः बाल विरोधी प्रतीत होते हैं।

उक्त सन्दर्भ में यदि 'हाशिए के लोगों' पर विचार किया जाय तो समस्या बड़ी गम्भीर लगती है। एक तो उनकी मातृभाषा, सामान्य भाषा (क्षेत्रीय भाषा /राजभाषा) से ज्यादा भिन्न होती है दूसरे उनकी मातृभाषा में पठन-पाठन सामग्रियों का सर्वथा अभाव होता है। भारत एक भाषायी विविधता सम्पन्न राष्ट्र है जिसके फलस्वरूप 'त्रिभाषा-सूत्र' भी इस समस्या को सुलझाने में बौना सिद्ध हो गया। पठन-पाठन सामग्रियों का बच्चों की मातृभाषा में उपलब्ध न होना शुरू से ही बच्चों में शिक्षा के प्रति अरुचि उत्पन्न करता है। हाशिए के बच्चों की यह समस्या राष्ट्र के समक्ष एक गम्भीर चुनौती बनी हुई है जिसके समाधान के लिए नीति निर्धारकों ने बातें तो बहुत की हैं, पर काम कम।

भारत के राज्यों की शिक्षक चयन नीतियों में भी उपर्युक्त शोध के तथ्यों को झुठलाने का प्रयास दिखता है। प्राथमिक स्तर पर बच्चों के लिए उसकी मातृभाषायी पृष्ठभूमि का अध्यापक अधिक उपयुक्त रहेगा। शायद इसीलिए बेसिक शिक्षा हेतु जिला स्तरीय प्रबन्धन किया गया है। किन्तु एक आश्चर्ययुक्त हास्यास्पद स्थिति जब उभरकर सामने आती है जब खुद हमारे एक प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, में सन् 2000 और इसके बाद की प्रायः सभी प्राथमिक शिक्षा हेतु की गयी भर्तियाँ राज्य स्तर पर सम्पन्न हुई हैं और इसके परिणामस्वरूप नियुक्त अध्यापक काफी दूर के जिलों में अपनी सेवाएँ दे रहे हैं जो स्थानीय भाषा और उसके बोध से पूर्ण विलग हैं। विद्वतजन क्या सोचते हैं और राज्य इन्हें किस प्रकार

नियंत्रण करता है, इसमें भी अनोखा विरोधाभास है। हम सबको मालूम है कि अकेले उत्तर-प्रदेश में ही हिन्दी के कितने विविध स्थानीय स्वरूप उपलब्ध होते हैं। क्या ये अध्यापक बच्चों की मातृभाषा में पाठन कार्य सम्पन्न कर पाते होंगे?

वैश्वीकरण के इस युग में भाषाओं की भी अपनी स्थिति है। जिस प्रकार समाज में जातियों आदि की अपनी उच्च तथा निम्न स्थिति है, उसी प्रकार भाषाओं की भी वैश्विक समाज में अपनी उच्च एवं निम्न अवस्थाएँ हैं। आज वैश्विक विकास के प्रायः सभी उपागम कुछ खास भाषाओं में ही उपलब्ध हैं। अतः जो मनुष्य या समाज इन भाषाओं से जुड़ाव नहीं रखते हैं वह वैश्विक विकास के लाभों से स्वतः ही वंचित हो जाते हैं और हाशिए पर ढकेल दिये जाते हैं। इस प्रकार हाशिए के लोगों हेतु भाषा खासी उत्तरदायी होती है और इसीलिए भाषाओं का अपना खासा महत्व भी है। आज वैश्विक रूप से कुछ खास भाषाएँ स्वीकृत हैं और अपना वैश्विक वर्चस्व बनाये हुए हैं।

भाषा व्यक्ति को समाज में सम्मानीय स्थान प्रदान करती है। सम्मानित भाषा, सम्मानित स्थान। वैश्विक भाषा, वैश्विक स्थान। यद्यपि आज के पूँजीवादी युग में व्यक्ति, समाज, देश का स्थान मुख्यतः पूँजी के आधार पर निर्धारित होता है, किन्तु इस पूँजी निर्माण का आधार होता है - ज्ञान और भाषा। स्पष्ट है, व्यक्ति को समाज या देश में अपना स्थान बनाने में भाषा का महत्वपूर्ण स्थान होता है। यही नहीं आज वैश्विक पहचान बनाने में भी किसी देश के लिए भाषा का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

भाषायी स्थिति या भाषायी भेदभाव के कई कारण हैं, जैसे - उपनिवेशी विरासत, भाषा के प्रति नकारात्मक प्रत्यक्षीकरण, भाषायी विकास की स्थिति, राष्ट्रीय एकता, आधुनिकता और आर्थिक विकास, भूमण्डलीकरण, दोषपूर्ण भाषायी योजना। भारत सदियों तक उपनिवेश रहा है। औपनिवेशिक प्रवृत्ति का प्रभाव भारत की भाषा पर भी पड़ा है। भारत में भाषायी भेदभाव की सदियों पुरानी परम्परा रही है। भारत में प्राचीन समय से ही साहित्य, सत्ता और आम जनमानस की भाषा अलग-अलग रही है। शायद यही कारण रहा है कि आमजन हेतु (हाशिए के लोग) साहित्य (शिक्षा) और सत्ता (जन भागीदारी) सदैव ही दूर की कौड़ी रही है। भारत में औपनिवेशिक काल में उपनिवेशियों ने सत्ता पर अपनी पकड़ बनाये रखने हेतु भाषा को हथियार के रूप में प्रयोग किया। किसी भी व्यक्ति, समाज या देश को अपनी सोच के दायरे में लाने का एक उपाय है - इनका सांस्कृतिक विच्छेदन। साहित्य (भाषा) पर आक्रमण करके यह कार्य आसानी से किया जा सकता है। भारत में मुस्लिम और अंग्रेजी शासकों ने दीर्घकाल तक यही कार्य किया। मुगलकाल में सत्ता में भागीदारी हेतु जहाँ अरबी, फारसी का ज्ञान आवश्यक था वहीं ब्रिटिश काल में भी ऊँचे ओहदों पर आसीन होने हेतु 'अंग्रेजी भाषा ज्ञान' एवं 'वेशभूषा' अनिवार्य थी। जहाँ मुस्लिम शासकों ने आततायी तरीकों से भारत में ज्ञान-विज्ञान और सांस्कृतिक विरासत को नष्ट करने की कोशिश की वहीं ब्रिटिश शासकों ने लोगों को मानसिक अंग्रेज बनाने का पूर्व नियोजित प्रयोग किया। लार्ड मैकाले (1835) का भारत में नई प्रकार की शिक्षा की नींव डालने के पीछे का मकसद ही था - "पढ़े-लिखे अंग्रेज तैयार करना - जो शरीर और रंग-रूप से भले

भारतीय हों परन्तु सोच में अंग्रेज हों।” यही नहीं मैकाले ने भारतीय भाषा एवं संस्कृति पर ‘अणु-बम’ गिराते हुए यहाँ तक कह दिया था कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य तो सम्पूर्ण अंग्रेजी साहित्य के पुस्तकालय की एक अलमारी की एक रैक के बराबर भी नहीं है। यह है किसी भी देश की भाषा के प्रति नकारात्मक रवैया जो उस देश को सम्पूर्णता में प्रभावित करता है। यही कारण है कि एक युग की भाषायी पराधीनता आज प्रबुद्ध नागरिकों का भाषायी मोह जाल बन गया है जो उन्हें उच्च, सुसंस्कृत श्रेणी में स्थापित करता है।

भाषा आत्मीयता का अजस्र स्रोत प्रवाहित करती है। जब लोगों में आत्मिक एकता (भावात्मक एकता) होगी तो लोग राष्ट्रीय स्तर पर एकीकृत होंगे। इसी महत्व को समझते हुए डॉ. सम्पूर्णानन्द ने भारत में राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने हेतु भावात्मक एकता पर जोर दिया था। एक प्राचीन मान्यता है कि एक भाषा एकीकृत करती है जबकि बहुभाषा वर्गीकृत करती है। शायद भारत को बाँटने में या एकीकृत होने से रोकने में भी बहुभाषा का एक बड़ा योगदान रहा है। इसीलिए महात्मा गाँधी ने स्वतन्त्रता के पश्चात् एक भाषा - राजकीय भाषा हिन्दी, के सर्वस्वीकृत होने पर जोर दिया था। शायद यहाँ पर यह कहना अनुचित प्रतीत नहीं होता कि भारत में सुसम्पन्न बहुभाषावाद ने भी लोगों को भाषायी हाशिए पर पहुँचा दिया है।

आज आधुनिकता को विकास का पर्याय माना जाता है। वास्तव में आज के भूमण्डलीकरण के दौर में आधुनिकता के मायने भी बदल गये हैं। आज आधुनिकता केवल वैचारिक तन्त्र तक ही नहीं रह गयी है बल्कि यह सम्पूर्ण सामाजिक संस्कृति में द्रष्टव्य हो रही है। इस आधुनिकता ने भी भाषायी विकास को काफी हद तक प्रभावित किया है। आज यह हाल है कि वही भाषा सर्वमान्य है जो हमें आधुनिक बना सके। इस आधुनिक बनने की फिराक में भाषा का भी स्वयं आधुनिकीकरण हो गया है। आज भाषा और आधुनिकता एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं। अब भाषा के स्तरीकरण हेतु आधुनिकता एक पैमाना बन गयी है। ‘आधुनिक भाषा’ भाषायी स्तरीकरण के सर्वोच्च शिखर पर काबिज है और इस ‘आधुनिक भाषा’ को अपनाने वाले लोग सामाजिक स्तरीकरण के उच्च पायदान पर स्थापित हैं। अतः निचले स्तर पर रहने वाले लोग (हाशिए के लोग) भाषायी उपेक्षा के शिकार हैं। इस प्रकार आधुनिकता आज भाषायी विकास में बाधक बन गयी है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिकता आज हाशिए के लोगों के लिए एक चुनौती बन गयी है।

आज आधुनिकता के चक्कर में लोग अपनी मौलिक भाषा से पलायन कर रहे हैं। वे विकास के लिए तथाकथित ‘आधुनिक भाषा’ को अपना रहे हैं। सरकार भी इस मानसिकता से ऊपर नहीं उठ पायी है। सरकार भी ‘आधुनिक भाषा’ को ही अपनाने पर जोर देती रहती है और ‘शेष भाषाओं’ के प्रति उपेक्षित रवैया अपनाती रहती है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से ‘शेष भाषा-भाषी’ लोगों (हाशिए के लोगों) के प्रति भी उपेक्षा हो जाती है। इस प्रकार हाशिए के लोग अपने को ठगा हुआ महसूस करते हैं और समाज तथा राष्ट्र के प्रति उदासीन हो जाते हैं।

सन्दर्भ :

1. रमेश उपाध्याय एवं संज्ञा उपाध्याय: सृजनशीलता, शब्द संधान प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004
2. एन.सी.ई.आर.टी., प्राथमिक शाला शिक्षक के लिए मनोविज्ञान, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, 1993
3. अक्षय कुमार, शिक्षा की मुक्ति; ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
4. कृष्ण कुमार, शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998
5. कृष्ण कुमार, राज, समाज और बच्चे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
6. सुषमा गुलाटी, सर्जनात्मकता के लिए शिक्षा, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, 2009
7. रमेश दवे, मैं इस तरह नहीं पढ़ूंगी, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
8. जगमोहन सिंह राजपूत, शैक्षिक परिवर्तन का यथार्थ, विद्या विहार प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
9. प्रेमपाल शर्मा, पढ़ने का आनन्द, सामयिक बुक्स प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
10. अनिल सद्गोपाल, शिक्षा में बदलाव का सवाल, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004